

अंतस की पड़ताल

कमला वी. मुकुंदा

शिक्षा वास्तव में क्या है, यह एक ऐसा सवाल है जिससे शिक्षा में काम करने वाले हरेक सजग कार्यकर्ता की मुड़भेड़ होती है। आमतौर पर इस सवाल का जवाब भी शिक्षा के बारे में हमारे सामाजिक अनुकूलन से ही आता है। जिसके तहत शिक्षा को सिर्फ सामाजीकरण या रोजगार के लिए आवश्यक शर्त के रूप में ही देखा जाता है। लेकिन वास्तव में शिक्षा के मायने इस प्रक्रिया में रत रहने से ही निकलते हैं। इस लेख में बच्चों के साथ काम करने के अनुभवों के साथ इसी तरह के सवालों से जूझने का अनुभव है।

यह लेख तीन किस्तों में हिन्दुस्तान टाइम्स के मुम्बई संस्करण में 28, 29 फरवरी एवं 3 मार्च, 2008 में छपा है।

I

जिस स्कूल में मैं पढ़ाती हूँ, उसकी एक छात्रा ने हाल ही में अपनी एक परियोजना पूरी की। उसकी कक्षा ने उस विषय के विभिन्न पक्षों पर काम किया था और हरेक ने कई सप्ताह बाद एक-एक रिपोर्ट तैयार की थी। उसके श्रम का नतीजा प्रभावित करने वाला था। साफ, सुन्दर, आकर्षक, सुव्यवस्थित, रोचक सूचनाओं से भरपूर और चित्रात्मक प्रस्तुतियों के साहसिक प्रयासों के साथ - संक्षेप में, उम्दा काम। परन्तु परम्परागत कक्षाओं के नजरिए से देखने पर उसमें कुछ कमी खटक रही थी। कमी यह कि अपने सहपाठियों की तुलना में 'बेहतर' काम करने की 'उमंग' भला कहां थी ? या फिर कड़ी मेहनत और कोशिश के बावजूद दूसरों से पिछड़ने की निराशा कहां थी ? परियोजना पर काम करते समय किसी छात्र-छात्रा को जानकारियां या विचार एक-दूसरे से छुपाने की बात सूझी नहीं थी। सभी ने एक-दूसरे की मदद की और पाई थी। तो फिर उन तमाम विचारों का क्या हुआ जो मेरे स्कूली जीवन के लिए बुनियादी थे ?

यह स्थिति हमारे स्कूल के लिए असामान्य नहीं है। यहां स्पर्धा संस्थागत रूप में नहीं है। पहले भी नहीं थी। अठारह वर्ष पूर्व स्कूल शुरू हुआ, तब से ही छोटा सा गृहकार्य हो या कोई महत्त्वपूर्ण काम सौंपा गया हो, विद्यार्थी जो कुछ करते हैं वह अंतर्निहित उत्प्रेरणा और अनुशासन पर टिका होता है। पर कहानी यहां खत्म नहीं होती क्योंकि जैसा आपने अंदाजा लगा लिया होगा, निश्चित है कि सभी छात्रों का काम उम्दा भी नहीं होता! सीखने की स्थितियों में स्पर्धा का उपयोग न करने का निर्णय दरअसल यह तलाशने का शुरूआती बिन्दु है कि मानवीय कोशिशों में श्रेष्ठता कैसे लाई जाए। परन्तु इसे हम दुविधा के बदले एक चुनौती के रूप में देखते हैं। छात्र-छात्राओं को खुद के बारे में जानने-तलाशने का एक न्यौता मानते हैं।

इन वर्षों में हमारे तौर-तरीके पर सवाल उठाया गया है : स्पर्धा क्यों नहीं ? दुख की बात है कि उसका सबूत पेश करने की जिम्मेदारी भी हम पर ही लादी जाती

लेखक परिचय :

शैक्षिक मनोविज्ञान में सायराकुस यूनिवर्सिटी से पीएचडी करने के बाद चार साल तक स्नातक स्तर पर अध्यापन। वर्तमान में बेंगलूर के निकट 'सेन्टर फॉर लर्निंग' में बच्चों के साथ शिक्षण कार्य में रत हैं।

सम्पर्क :

103, 6th मेन रोड, मल्लेश्वरम, बैंगलोर- 560003

है ! दूसरे स्कूलों से कोई यह नहीं पूछता कि “होड़ या स्पर्धा क्यों” - शायद इसलिए कि यह मान लिया गया है कि सही तरीका यही है। परन्तु सवाल इतनी बार पूछा गया है और उतनी ही बार उसका जवाब भी पेश किया गया है कि मैं उन दो सबसे आम तर्कों को सामने रखूंगी जो होड़ के पक्ष में दिए जाते हैं। पहला यह कि स्पर्धा स्वाभाविक है। दूसरा यह कि किसी भी दूसरे तरीके की तुलना में स्पर्धा से ही व्यक्ति का श्रेष्ठतम उभरता है। अब मुझे अनुमति दें ताकि मैं इन दोनों ही तर्कों का खण्डन कर सकूँ।

जब होड़ को ‘स्वाभाविक’ कहा जाता है तो अमूमन मतलब यह होता है कि यह हमारे उद्विकास की धरोहर है - पशु स्पर्धा करते हैं, फिर हम क्यों नहीं करें ? यह बात हम परे छोड़ देते हैं कि पशु तमाम और चीजें भी करते हैं जो हम नहीं करते, जैसे केवल कच्चा खाना या तारों की छांव में सोना। तथ्य यह है कि स्पर्धा उनके जीवन में एक निश्चित या तयशुदा भूमिका भर निभाती है। अब्बल तो यह स्पर्धा उन संसाधनों के लिए होती है जो सीमित या कम हैं। पर मुझे यह कभी समझ नहीं आया है कि कक्षा में शिक्षक से मिलने वाली शाबाशी या सराहना को स्वाल्प संसाधन क्यों होना चाहिए ? या हमें कक्षाओं में सितारे (स्टार्स) और श्रेणी (रैंक) जैसे नकली संसाधन गढ़ने की जरूरत भला क्यों पड़ती है ? अगर किसी कॉलेज में 10 सीटें हों और उनके लिए 1000 आवेदन मिलें, तो आप निश्चित रूप से कोई ऐसी स्पर्धात्मक प्रक्रिया अपनाएं ताकि यह तय हो सके कि किसे दाखिला मिलेगा, किसे नहीं। जहां संसाधन वास्तव में सीमित हों, वहां ऐसी स्थिति से निपटने का कोई दूसरा तरीका होगा भी नहीं। दूसरे, पशुजगत में स्पर्धा इसलिए काम आती है ताकि प्रजाति को मजबूत बनाने के लिए, स्वस्थ व सबल को रोगी और दुर्बल से छांटा जा सके, ना कि व्यक्तियों की छांटाई के लिए। मैं ऐसे किसी पाखी को नहीं जानती जिसने अपने प्रतिस्पर्धी के गीत को सुन उससे बेहतर गाने की कोशिश की हो, न ही किसी तितली को जो दूसरी तितलियों से ज्यादा सुन्दर दिखने के लिए अपने डैनों पर कुछ और रंग पोत ले। परन्तु इन्सान व्यक्तिगत प्रदर्शन को सुधारने के लिए होड़ का उपयोग करते हैं। जब हम कहते हैं ‘स्पर्धा श्रेष्ठता उपजाती है’ तो अमूमन हमारा यही मतलब होता है।

इस दावे के पेटे कि हम सबमें स्पर्धा व आक्रामक सहज-वृत्तियां होती हैं, मैं महज इतना भर जोड़ना चाहूंगी कि हममें सहयोग व परोपकार की प्रवृत्तियां भी होती हैं। उद्विकासीय मनोविज्ञान, नृशास्त्र, इतिहास तथा आचारशास्त्र में हुई शोध यह संकेत देती हैं कि सहयोग व परोपकार जैसी प्रवृत्तियां भी हममें इसलिए विकसित हुई हैं क्योंकि कई स्थितियों में नृ अस्तित्व इन्हीं पर निर्भर करता है। क्या इसका मतलब यह है कि हमें स्पर्धा समेत इन सभी प्रवृत्तियों के लिए मौके देने होंगे ? शायद इसका मतलब यह है कि हमें बड़ी

सावधानी से सोच-समझ कर यह तय करना होगा कि हम अपने समाज में किन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना, तबज्जो देना चाहते हैं ? क्योंकि होड़ की मानसिकता, वैश्विक आयाम पा उस सामाजिक दुष्क्रिया का रूप धर चुकी है जो आज हमें अपने आस-पास नजर आती है (उदाहरण के लिए गरीबी, असमानता आदि)।

अब दूसरे तर्क को देखते हैं। मैंने होड़ की परिस्थियों से बाहर छात्रों, शिक्षकों और लोगों के समूहों को छोटे-बड़े रूप में श्रेष्ठता हासिल करते देखा है। हमारे स्कूल में हम लगातार यह देख-जान रहे हैं कि स्पर्धा के बिना भी श्रेष्ठता संभव है। कई चीजें बिना फूहड़पन, असावधानी, बहानेबाजी या सचेतन गर्व के साथ बड़ी अच्छी तरह की जाती हैं। इससे हमें अचरज भी नहीं होना चाहिए। सबसे बढ़िया संगीत, श्रेष्ठ ज्यामितिय प्रमेय और खूबसूरत उपन्यास क्या किसी स्पर्धा के विजेता थे ? निश्चित रूप से रचनात्मक श्रेष्ठता के तमाम दूसरे सशक्त स्रोत हैं, जैसे आविष्कार की तथा भावनात्मक अभिव्यक्ति की बौद्धिक उत्तेजना। परन्तु स्कूल और समाज उस तरीके को इतनी आसानी से तो छोड़ेगा नहीं, जिससे उन्हें त्वरित और सुनिश्चित परिणाम मिलते रहे हैं। तो अगर मुझे स्पर्धा के औजार को त्यागने का कहना हो तो जाहिर है मुझे और भी कुछ जोड़ना होगा, तो यह ही सही।

अगर होड़ हममें निहित श्रेष्ठतम को उभारती है तो साथ ही हमारे निकृष्टतम को भी। अगर किसी एक विषय या चीज में श्रेष्ठता उभरती है तो उसके समान्तर तमाम दूसरी चीजों में हमारा औसतपन भी रेखांकित करती है। यहां मैं विजेताओं और हारने वालों दोनों की सामाजिक स्वस्थमनस्कता, अंतर्व्यक्तिक मूल्य, मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य की बात कर रही हूँ। मनोवैज्ञानिक शोध में मानसिकता पर स्पर्धा के नकारात्मक असर के लिए आत्म-केन्द्रित, नैतिक तर्क, स्पर्धा-चिंता जैसे शब्दों का उपयोग होता है। हम श्रेष्ठता की परिभाषा एक प्रक्रिया, एक भावना, जुड़ाव की अनुभूति के बदले एक संकीर्ण उत्पाद के रूप में करते हैं (फिर चाहे वह कितनी भी अद्भुत क्यों न हो)। पर श्रेष्ठता में वह तरीका या रास्ता भी तो शामिल होना चाहिए जिसके जरिये वहां पहुंचा गया हो, और इस बात को सिद्ध करने के उदाहरण हमारे पास पर्याप्त हैं। दूसरों से पहले एवरेस्ट पर्वत की चोटी पर पहुंचने के लिए क्या-क्या करना होता है ? जाहिर है रास्ते में मिलने वाले घायलों या मरणासन्न लोगों की हमें उपेक्षा करनी ही पड़ती है।

होड़ हमारी मंशा को भी प्रभावित करती है, और कुछ इस तरह जिसकी हमने उम्मीद तक न की हो। एक स्पर्धात्मक वातावरण में कोई छात्रा कड़ी मेहनत के बावजूद असफल रह सकती है, क्योंकि सफलता की परिभाषा है दूसरों से बेहतर करना। सो उसे खुद से

पूछना पड़ता है, “अगर मैं कोशिश करूँ तो क्या सफल हो सकूंगी ?” उसे दूसरों को पछाड़ने की अपनी काबलियत को आंकना पड़ेगा और उसकी सीखने की उत्प्रेरणा भी। इस मूल्यांकन पर निर्भर करेगी। इसे ही मनोविद ‘प्रयास की दोधारी तलवार’ कहते हैं। यह कोशिश सफलता की ओर ले भी जा सकती है, पर अगर यह असफलता की ओर जाए तो व्यक्ति का स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। अतः स्पर्धात्मक वातावरण में उन कठिन कामों से लोग बचते हैं, जिसमें असफलता की संभावना हो।

यह सब जान आप शायद आरंभिक, बढ़त के सालों में स्पर्धा को हटाने को तैयार हो जाएं। पर आप यह जरूर पूछेंगे कि जब छात्र स्कूल से निकलेंगे तो वे गला-काट स्पर्धा की दुनिया के लिए तैयार ही नहीं होंगे ? अनुभव ने हमें सिखाया है कि स्पर्धा की तैयारी दस-बारह साल के अभ्यास की बात नहीं है। स्पर्धा की जो स्थितियाँ आवश्यक रूप से उनके सामने आएंगी उनसे निपटने में व्यापक दृष्टिकोण, परिस्थितियों और स्वयं की गहरी समझ कहीं अधिक कीमती है। उदाहरण के लिए तब किसी परीक्षा के नतीजे छात्र के लिए जीने-मरने के निर्णय का आधार नहीं बनते। सार्वजनिक परीक्षा कक्षाओं के बाहर हमारे छात्र हास्यास्पद रूप से हल्के नजर आते हैं: आखिरी वक्त तक रटने की कोई कोशिश नहीं, बस परीक्षा देने की एक आतुरता। वे परीक्षाओं में और स्कूल से आगे जीवन में अच्छा प्रदर्शन करते हैं। अपने चुने हुए क्षेत्रों में प्रवेश पाने और उनमें सफल होने के लिए वे मेहनत करते हैं। उदाहरण के लिए उनमें से कुछ एक साल ले, प्रवेश परीक्षाओं की तैयारी करते हैं। कई मुख्यधारा की गला-काट स्पर्धा से अलग क्षेत्रों में करियरों को भी चुनते हैं, ताकि वे वह कर सकें जो उन्हें अच्छा लगता है या जो उन्हें सार्थकता देता है।

दरअसल दुनिया केवल होड़ या मुख्यतः होड़ नहीं है। स्पर्धात्मक परिस्थितियाँ सुनिश्चित होती हैं, या कहें एक संकीर्ण दायरे में सीमित होती हैं, क्योंकि अन्यथा यह मापा ही नहीं जा सकता कि किसने किससे बेहतर किया। परन्तु दुनिया हर दिन और-और पेचीदा बनती जा रही है, इस तेजी से बदलती जा रही है कि युवावर्ग को अपने ईर्दगिर्द की परिस्थितियों से निपटने के लिए ऊँचे दर्जे की पहल और रचनात्मकता की जरूरत है। अगर वे दूसरों के साथ सहयोग से काम नहीं कर सकते या सिर्फ होड़ की स्थिति में ही प्रेरित होते हैं या केवल तब ही खुश रह सकते हैं जब वे चोटी पर हों... तो उनके लिए संकेत शुभ नहीं हैं !

एक आखिरी बिन्दु: अमूमन हम श्रेष्ठता को भारी उपलब्धियों के साथ जोड़ते हैं। परन्तु हमारे स्कूल में हम इस बात के प्रति सचेत हैं कि फर्श की झाड़ू करने जैसे निरीह कामों में भी श्रेष्ठता की संभावना है। परन्तु सामान्यतः किसी छात्र की अच्छा झाड़ू लगाने

के लिए कदर भी नहीं की जाएगी और न उसका नाम झाड़ू लगाने की स्पर्धा में दर्ज करवाया जाएगा। मुझे डर है कि ऐसे में जो संदेश बच्चे ग्रहण करते हैं वह है, श्रेष्ठता बराबर उत्पाद बराबर कदर। हम अपनी जिन्दगी का ज्यादातर समय, चुपचाप अपने छोटे-छोटे काम करते गुजारते हैं। रोजमर्रा के जीवन में हम एक-दूसरे के दैनंदिन कामों की गुणवत्ता का सामना भी करते हैं, और हमें तब बड़ी उलझन होती है जब उनमें गुणवत्ता नदारद दिखती है। जब ये छोटे-छोटे काम श्रेष्ठता से किए जाएंगे तब ही हमें इस देश में फर्क नजर आएगा।

II

स्पर्धात्मक मूल्यांकन एक आसान और अपरिहार्य औजार बन चुका है जिसके सहारे हम छात्रों को उत्प्रेरित भी करते हैं और श्रेष्ठता को प्रोत्साहित भी। अपने एक पूर्ववर्ती आलेख में मैंने उन कुछ कारणों का जिक्र किया था जिनके चलते मैं जिस स्कूल में काम करती हूँ (सेंटर फॉर लर्निंग या सी.एफ.एल.) वह स्पर्धा का इस औजार के रूप में उपयोग नहीं करता। तो एक स्वाभाविक सवाल यह उठता है कि फिर हमारे जैसे किसी स्कूल में श्रेष्ठता को किस तरह प्रोत्साहित किया जाता है ?

सी.एफ.एल. में हमारा प्रारंभिक बिन्दु शायद यही है कि श्रेष्ठता सबके और सब कुछ के लिए है। हरेक इन्सान, जिस किसी काम में जुटे, उसमें श्रेष्ठ सिद्ध होने की काबलियत रखता है। यह उस मान्यता से काफी भिन्न है जिसमें यह माना जाता है कि चंद बिरले लोग ही श्रेष्ठता हासिल कर सकते हैं, जबकि अधिकांश लोग दरमियानी योग्यता से ऊपर नहीं बढ़ पाते। मुझे लगता है कि यह मान्यता काफी व्यापक है, यही कारण है कि समाज को तमाम चीजों को, मय शिक्षा के, उनके मौजूदा ढांचे में ढाला गया है। इससे यह भी समझ आता है कि समाज श्रेष्ठता के लिए स्पर्धा के औजार उपयोग क्यों करता है, क्योंकि यही औजार उस छवि को गढ़ता है जिसमें कुछ लोग सफल होते हैं और अधिकांश असफल। यह तरीका भारी संख्या में लोगों को निराशा की ओर धकेलता है। और तो और हमारी मौजूदा शिक्षा व्यवस्था में तो छह साल की उम्र से ही बच्चे निराशा का सामना करते हैं !

परन्तु अगर हम श्रेष्ठता को दूसरी नजर से देखें, उसे आविष्कार करने और रचनात्मकता की ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखें जिसमें संतोष निहित हो, तो फिर यह चन्द लोगों का एकान्तिक क्षेत्र नहीं रह जाएगा। मानव में इस प्रकार के संतोष को अनुभव करने की क्षमता है, इसलिए क्योंकि यह कोई अंतिम उत्पाद नहीं बल्कि एक मनोदशा से निपजता है। श्रेष्ठता सौंदर्य है, अपने आपमें आनन्ददायी है। जाहिर है कि इस पाने के लिए मेहनत करनी पड़ती है। आपको

इसके लिए एक तरह से अपना शरीर, अपनी आत्मा दे डालनी पड़ती है। इस काम में आकण्ठ डूब जाना पड़ता है, बिना प्रतिवाद पूरा समर्पण ही करना पड़ता है। यद्यपि यह नजरिया अन्तिम उत्पाद के महत्त्व को कमतर जरूर बनाता है परन्तु बेशक इस प्रक्रिया का नतीजा गुणवत्ता तो दर्शाता ही है। कहते हैं न, खीर की श्रेष्ठता का सबूत उसे खाने पर ही मिलता है।

हमारे जैसे स्कूल में जहां तुलनात्मक मूल्यांकन नामौजूद हो, छात्र-छात्राओं के प्रयासों को किसी मानक के अनुसार मापना तो फिर भी पड़ता है ताकि बच्चों को उचित सुझाव दिए जा सकें। तो अगर यह मानक दूसरे छात्रों के प्रदर्शन या किसी बाहरी बोर्ड से न लेना हो तो वह आखिर होगा क्या ? अनुभव से हमने जाना कि एक शिक्षक को हरेक बच्चे की संभावनाओं का अच्छा-खासा अंदाज होता है। तय है कि यहां भी तुलना का पुट तो होता है, फिर भी अनुभवी शिक्षिका या शिक्षक के मन में उस आयु वर्ग के बच्चों के लिए क्या शक्य है की एक छवि रहती है, इस छवि में वह किसी बालिका या बालक विशेष की पृष्ठभूमि, उसकी संभावना को जोड़ सकता है। हमने पाया है कि यह छवि या मानक भरोसेमंद भी होता है और सुपरिभाषित भी। दरअसल यह इतना साफ होता है कि जैसे ही किसी छात्र का काम 'बेहद अच्छा' मिलता है - हम फौरन समझ जाते हैं कि उसके गृहकार्य में उसकी मां या उसके पिता ने कुछ ज्यादा ही मदद कर दी है !

क्षमता या प्रतिभा का ख्याल किए बिना श्रेष्ठता की ओर लक्षित होना एक रोचक अवधारणा की तरफ ले जाता है। यह लक्ष्य तब एक शिक्षिका के रूप में मेरे लिए यह जानने तक सीमित नहीं रहता कि छात्र ने अपनी ओर से श्रेष्ठ प्रयास किया है या नहीं बल्कि उसको भी यह समझना होता कि इसका मतलब आखिर क्या है ? इस अवधारणा का परिमाणन कठिन है, खासकर इसलिए क्योंकि कोई भी बाहरी मानक किसी छात्र की स्थिति विशेष को एक घटक के रूप में नहीं जोड़ सकता। मानक परीक्षाएं और बैचमार्क तो अपनी परिभाषा से ही व्यक्ति की चिन्ता नहीं करते ! जैसे मैं पहले ही कह चुकी हूं कि अनुभव के साथ शिक्षक को इसका पता लगने लगता है, वह समझ लेता है कि किसी छात्र ने पूरी और ईमानदार कोशिश नहीं की है। इस स्थिति में हम उससे कह सकते हैं कि वह इससे बेहतर कर सकता है। यहां साथ में यह जोड़ने की जरूरत नहीं है। "फलों का काम देखो, तुम उससे भी बेहतर कर सकते हो।"

मतलब हमारी शिक्षा-दीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा यह भी है कि हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में श्रेष्ठता को पहचानने में बच्चों की मदद करें। यह काम बच्चे के हमारे पास आने के पहले ही दिन से शुरू हो जाता है। सुबह-सबेरे सब्जियां काटने से लेकर पढ़ाई-लिखाई,

योगाभ्यास व खेलकूद, सभा में गीत गाने से लेकर कमरों की साफ-सफाई तक में गुणवत्ता पर बल दिया जाता है। बेतरतीब और लापरवाही से किए गए काम की ओर ध्यान बंटया जाता है और अक्सर कहा जाता है कि वे उस काम को फिर से करें तब तक... कब तक ? जब तक हम संतुष्ट हो जाएं ? जब तक छात्र उससे संतुष्ट हो जाए ? यह बात एक रोचक शैक्षिक चुनौती पेश करती है !

स्कूल में होड़ हटा देने के कुछ ही समय बाद आपको पता चलता है कि छात्र जादूई रूप से सुधर नहीं गए हैं, न वे अपनी पुरजोर कोशिश कर श्रेष्ठ काम कर, अपनी उपलब्धियों के आनन्द से सराबोर ही रहते हैं। फिर भी कई छात्रों में अच्छा काम करने की आंतरिक चाहत होती है, और उसमें उन्हें गर्व भी महसूस होता है। पर कई छात्रों में ऐसी भावना नहीं होती। जैसा मेरे एक सहकर्मी ने कहा कि, "अगर कोई छात्र औसत या घटिया काम करने पर आमदा ही हो, तो आप इस बारे में खास कुछ कर नहीं सकते।" इस समस्या का समाधान, बेंत में, गाजर में या एक स्पर्धा में तलाशने के लालच के बावजूद, हमने पाया है कि ये तरीके निरर्थक हैं। ऐसा करने से हम विरोध (रिजिस्टेंस) के समूचे मुद्दे को ही दर-किनार कर देते हैं (विरोध के लिए पहले शायद 'आलस' शब्द का इस्तेमाल होता था, पर मुझे लगता है कि इससे कुछ भी समझने में मदद नहीं मिलती, और मुझे तो वह खासा नापसन्द भी है।)। विरोध की इस गति को सम्बोधित नहीं करने का मतलब है छात्र को नुकसान पहुंचाना। वह आजीवन स्वयं में इस विरोध का सामना करेगा, और स्कूल ही में उसे यह मौका मिल सकता है जब वह इसके बारे में जान-सीख ले।

तो अब हम पहले अधूरा छोड़े गए वाक्य को पूरा कर लें, हम उसे तब तक वह काम फिर से करने को कहते हैं जब तक हम और खुद छात्र उससे संतुष्ट न हो जाए, पर यहां जोर उस संतुष्टि पर नहीं है। जोर इस बात पर है कि प्रक्रिया और उत्पाद दोनों में श्रेष्ठता पहचानना सीख लिया जाए। श्रेष्ठता के विचार से छात्र परिचित हों इसकी हम हर चंद कोशिश करते हैं, हमारे अपने काम के माध्यम से, स्कूल में आए आगन्तुकों के काम के माध्यम से, या फिर उन स्थानों या लोगों के काम के माध्यम से जिन्हें देखने या जिनसे मिलाने हम छात्रों को ले जाते हैं। गुणवत्ता या काम के किस्म के सवाल को तरह-तरह से जांचा जाता है, उस पर चर्चा होती है। हाल में एक गणित की कक्षा में शिक्षिका ने बताया कि द्विघातीय समीकरण की किसी समस्या को हल करने के तीन तरीके हो सकते हैं। पहला वह जिसमें बीजगणित का उपयोग किया जाए, जो मशीनी तरीका है। दूसरे में कैल्क्यूलस का उपयोग किया जाता है जो कुछ ऐसा है मानो मक्खी मारने के लिए कोई हथौड़े का उपयोग

करे। परन्तु तीसरे में दृश्य अंतर्दृष्टि या ग्रफिक तरीके का उपयोग होता है, जिसमें लालित्य है। पाठ्यक्रम की दृष्टि से इन तरीकों को साफ करने की जरूरत नहीं थी क्योंकि बीजगणित से सही जवाब मिल ही जाता। परन्तु ग्रफिक तरीके को समझने का अर्थ था कि छात्र-छात्राएं उसमें निहित खूबसूरती को भी देख-समझ सकें। छात्रों में इस श्रेष्ठ तरीके को जान तत्काल सहज प्रतिक्रिया हुई (उनके अपने शब्दों में, कूल ! ऑसम !)

एक शिक्षक समूह के रूप में हम खुद से तमाम अपेक्षाएं रखते हैं। फिर चाहे हम कोई अवधारणा सिखा रहे हों, खाना पका रहे हों, धाली धो रहे हों, माता-पिता के लिए कोई सूचना लिख रहे हों या सभा में घोषणा कर रहे हों, हमें हमेशा ध्यान रहता है कि हमें वह काम बखूबी करना है, बेध्यानी से, बेतरतीबी या लापरवाही से नहीं। उदाहरण के लिए अगर मैं कोई काम अच्छी तरह से न कर सकूँ तो मैं छात्रों का ध्यान इस बात की ओर बंटती हूँ और यह जानने की कोशिश भी करती हूँ कि ऐसा क्यों हुआ : क्या मैं जल्दी में थी, क्या मैं थकी सी थी, क्या मुझे उसमें मजा नहीं आया, या मैंने परवाह ही नहीं की ? स्कूल में अक्सर हम आयोजन करते हैं (संगीत सभा, प्रोफेशनल लोगों की वार्ताएं, सांस्कृतिक कार्यक्रम, मेले...)। हम इन्हें बढ़िया तरीके से आयोजित करने की पूरी कोशिश करते हैं और उम्मीद रखते हैं कि बच्चे इस सावधानी को पहचानेंगे, इससे सीखेंगे। तमाम संकेत हमें बताते हैं कि वे श्रेष्ठ और औसत में अन्तर करना सीखते हैं। यह श्रेष्ठता के प्रति उनकी प्रतिक्रिया से भी साफ होता है, चाहे वह उन्हें किसी बाहरी व्यक्ति, किसी शिक्षक या अपने किसी सहपाठी में ही क्यों न नजर आए। सच तो यह है कि क्योंकि उन्हें एक-दूसरे से भिड़ाया नहीं जाता, टक्कर लेने को कहा नहीं जाता, वे बिना संघर्ष अपने साथी के अच्छे काम की प्रशंसा कर पाते हैं !

III

अरस्तु अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स में लिखते हैं, “मानव जाति इस बात पर सहमत नहीं है कि कौन-कौन सी चीजें सिखाई जाएं... शिक्षा का सरोकार बौद्धिक होना चाहिए या नैतिक गुण। फिलहाल जो कुछ होता है वह हैरान करता है : किसी को पता नहीं कि किस सिद्धान्त पर बढ़ा जाए - हमारे प्रशिक्षण का लक्ष्य क्या हो - वह जो जीवन में उपयोगी है या सद्गुण या फिर उच्च ज्ञान ?” आज दो हजार साल से भी अधिक गुजर जाने के बावजूद यह सवाल जस का तस खड़ा है। शिक्षा में क्या शामिल हो ? जो उत्तर मैंने अक्सर सुना है, वह यह है कि शिक्षा का लक्ष्य बच्चों को ज्ञान और कौशल सिखाने और उनका सामाजीकरण करना है। मुझे लगता है कि यह उत्तर एक स्तर पर आपको पूरी तरह से संतुष्ट भी करता है, पर बारीकी से देखने पर आपको उतना ही असंतुष्ट भी करता है। कई

स्कूलों में ज्ञान और कौशल सिखाने का काम ठीक-ठाक तरीके से हो जाता है। बारह साल तक ज्ञान व कौशल के इस हस्तान्तरण को झेलने के बाद अट्ठारह वर्षीय किशोर-किशोरियों की हालत कुछ ऐसी हो जाती है कि ज्ञान और कौशल उनके कानों से रिसता-बहता सा लगने लगता है। जहां तक सामाजीकरण का सवाल है, स्कूल छोड़ने के समय तक छात्रों को तमाम ऐसे अनुभव हो चुके होते हैं कि दुनिया का कारोबार कैसे चलता है और उसमें मोलतोल कर अपना रास्ता निकालने के तौर-तरीकों की एक अच्छी खासी छवि भी उनके मन में बन जाती है। पर यह छवि स्कूलों और शिक्षकों के सुविचारित व सायास प्रयत्नों का नतीजा न होकर उपेक्षा व बेध्यानी का परिणाम होती है। इस हस्तान्तरण-सामाजीकरण प्रक्रिया का अंतिम नतीजा होता है स्थापित परिपाटियों की स्वीकृति, असुरक्षा की भावना और एक तरह की सुरंग-दृष्टि, जो सिर्फ दूर आगे ही दिखाए। यही कारण है कि हम सबके लिए यह सवाल बेहद महत्व का है कि “शिक्षा में क्या-क्या शामिल हो ?” यह सवाल शिक्षा के विचार को सिर के बल खड़ा कर देता है और उसे तब तक झकझोरता है जब तक पुरानी मान्यताएं झड़ न जाएं। कौन से ताजी अंतर्दृष्टियां हैं जो तब उभर सकती हैं ?

मुझे लगता है कि शिक्षा एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो किसी दूसरी संस्था से नितांत भिन्न है। व्यापार, उद्योग और सरकार सबके लिए एक निम्नतम सीमा है : धन, शक्ति, प्रतिष्ठा। पर शिक्षा इससे बिल्कुल अलग बात है (कुछ ऐसे स्कूलों को छोड़ कर जो दरअसल व्यापारिक उपक्रम हैं !) यहां निम्नतम सीमा है सीखना। और सिखाने में कुछ ऐसा है जो आधारभूत, क्रांतिकारी और परिवर्तनकारी है - कम से कम इस सबकी संभावना तो है, बशर्ते उसे विषयों और कौशलों के खांचों में बांध न दिया जाए। यही कारण है कि शिक्षा समाज में ऐसा बदलाव ला सकती है जो किसी दूसरी सामाजिक ताकत से नहीं लाया जा सकता। परन्तु इस दृष्टि से देखें तो न ज्ञान व कौशल के हस्तान्तरण को, न ही ‘सामाजीकरण’ को ‘सीखने’ के श्रेणी में रखा जा सकता है। क्योंकि सीखने का काम एक सक्रिय भागीदार द्वारा किया जाता है किसी खाली पात्र द्वारा नहीं जिसे भरा जा रहा हो, या माटी के लैंदे द्वारा भी नहीं जिसे चाक पर धर कोई दूसरा व्यक्ति आकार दे रहा हो। सीखना आमंत्रण के साथ होता है, जोर-जबरदस्ती से नहीं, और सीखना सीमाएं भी नहीं बांधता (“तुम्हें अच्छा लगता है या बुरा इसकी मुझे परवाह नहीं, यह काम तो तुम्हें पूरा करना ही है”)। व्यक्ति अपने आस-पास की दुनिया से संबंध जोड़ते हुए सीखता है, उससे कट कर नहीं।

शिक्षण-माने-हस्तांतरण के पुराने स्वरूपों की सीमाएं आज पहचानी और सुधारी जा रही हैं। अधिक कल्पनाशील शिक्षण करते हुए सीखने, बाल केंद्रित शिक्षण की दिशा में बढ़ने का एक

सशक्त आंदोलन नजर आ रहा है। हमारे बड़े शहरों में विशेषज्ञों द्वारा शिक्षकों की कार्यशालाएं आयोजित करने का विचार इस कदर लोकप्रिय बन चला है कि कई शिक्षक उनसे थक और ऊब गए हैं। शुरू होने के बाद यह आंदोलन क्रमशः शिक्षा व्यवस्था के हर स्तर को प्रभावित करेगा। यद्यपि इसकी प्रक्रिया धीमी होगी, क्योंकि इसका मतलब पाठ्यचर्या सामग्री और शिक्षक प्रशिक्षण, सभी में बदलाव लाना है। पर कम से कम अब हमारी दिशा तो सही है।

परन्तु सामाजिकरण का पेचीदा काम, जिसे दूसरे शब्दों में हम 'वास्तविक दुनिया के लिए बच्चों को तैयार करना' कह सकते हैं, अधिक रोचक और मेरी नजर में अधिक महत्वपूर्ण मसला है। इस मसले का मूल मेरी नजर में यह है : क्या शिक्षा का मतलब सिर्फ यह है कि हम समय के अनुरूप रचनात्मकता, सोच-विचार और सुधार के साथ प्रतिक्रिया करें ? जैसा मैंने कहा, सामाजिक बदलाव लाने के लिए कोई दूसरी सामाजिक संस्था का योगदान उतना माकूल नहीं हो सकता जितना शिक्षा का। बच्चों को 'समाज में फिट' करने के लिए जिस भारी ताकत को हम लगा रहे हैं वह समय, धन और ऊर्जा का भीषण अपव्यय है।

बच्चों को फिट करने की जो धारणा है वह शायद समाज की उस छवि से उभरी है कि समाज एक ऐसा भारी-भरकम हिंसक जन्तु है जिसका अस्तित्व हम सबसे स्वतंत्र है। फिर स्वाभाविक ही है कि हम इस हिंसक जन्तु को शांत व तुष्ट रखने के लिए वहीं सब करते हैं जो वह चाहता हो या फिर उसकी दुम के पीछे छुपते हैं ताकि जो आप चाहें वह कर सकें। अगर समाज की यह छवि सही है तो शिक्षा में वह सब शामिल होना चाहिए जो आपको समाज में सफल बनने के कायदे-कानून सिखा सके। पर समाज की एक वैकल्पिक छवि भी है जो यह रेखांकित करती है कि समाज हम सब, यानी हरेक व्यक्ति से अलग कुछ नहीं है। दार्शनिक जे. कृष्णामूर्ति ने यह बात सहजता से अभिव्यक्त की थी : उन्होंने कहा था कि "तुम ही दुनिया हो" और यह वक्तव्य अलंकारिक/प्रतीकात्मक या भावावेश का वक्तव्य नहीं था। फिर अगर कोई हिंसक जन्तु है ही नहीं तो, वयस्क से बच्चों तक हस्तान्तरित करने के कोई नियम भी नहीं हैं। (आशा है कि यह स्पष्ट होगा कि मैं "खाने के पहले कोई चॉकलेट नहीं" जैसे नियमों की बात नहीं कर रही हूं, जिन्हें मैं भी बखुशी लागू करती हूं, बल्कि उन नियमों की जो जीवन को क्या खुशनुमा बनाता है, सफलता क्या है, आदि से जुड़े हैं)। इसके बजाए शिक्षा में जानने-सीखने के वे विशाल क्षेत्र शामिल होने चाहिए जहां, वयस्क अंतिम सत्ता नहीं है। विनम्रता और स्नेह से शिक्षकों और माता-पिता को बच्चों के साथ बैठ उन तमाम चीजों पर बातचीत करनी होगी जो दरअसल महत्वपूर्ण हैं।

कई कारणों से मैं यह नहीं मानती कि परम्परागत मूल्य शिक्षा के तरीके इस दिशा में ले जा सकते हैं। मूल्य हस्तान्तरण से संप्रेषित नहीं किए जा सकते, सच तो यह है कि उन्हें संप्रेषित किया ही नहीं जा सकता। उन्हें तो शिक्षक और छात्र को साथ मिलजुलकर चर्चाओं और तलाश से ढूंढ़ा जा सकता है। अगर शिक्षा छात्रों को स्वस्थ संबंध बनाने का स्थान उपलब्ध करवा सके तो छात्र मूल्यों को जीवन्त रूप में तलाश पाएंगे न कि निष्प्राण अवधारणों की तरह। हमारे मौजूदा मूल्य वैसे भी भविष्य में मददगार नहीं रहेंगे क्योंकि उठने वाले नए नैतिक मुद्दे भी अजीबोगरीब होंगे। जरा ऑनलाइन मित्रताओं, सेल-फोन का नशा, दिमागी इम्लान्ट आदि के बारे में सोचें, जिनके बारे में उठे सवाल हमारे दरवाजे पर दस्तक देने लगे हैं। ऐसे में शिक्षा में चीजों के बारे में सोच पाने की क्षमता शामिल होनी ही होगी। इस विचार को कुछ विस्तार देने की जरूरत है।

मनोविदों ने पाया कि स्कूल और कॉलेजों के छात्रों के सोचने विचारने के कौशल आश्चर्यजनक रूप से कमजोर हैं - वे किसी मुद्दे को पूरी तरह जांच नहीं पाते। जब उनसे इस तरह के सामान्य सवाल पूछे जाएं कि "क्या टी.वी. व कम्प्यूटर गेम्स में दर्शाई गई हिंसा समाज में हिंसा को बढ़ाती है ?" तो उनके पास पक्ष या विपक्ष के लिए बहुत बिन्दु नहीं जुटते। उनके पास जो प्रासंगिक ज्ञान होता है उनका विवेचन भी उनकी बौद्धिक क्षमता से काफी कम रह जाता है। इसे कभी-कभी 'जड़ ज्ञान' की समस्या कहते हैं। शायद ऐसा इसलिए होता हो क्योंकि स्कूल हमेशा सही जवाब पर, जल्दी से सोचना बन्द करने पर और रेखीय विचार पर ध्यान केंद्रित करते हैं।

फिर भी महज बाहरी मुद्दों पर सोच पाना वाद-विवाद प्रतियोगिताओं की मानिंद, अकादमिक गतिविधि बन जाता है। जब तक हम खुद पर चिन्तन की पैनी रोशनी नहीं डालते, हम भी भ्रम में फंस सकते हैं। ऐसे में शायद हम कहें "समस्या इस या उस व्यक्ति में इस या उस व्यवस्था में है।" हम स्वयं इस दुनिया और उसकी व्यवस्थाओं से अलग तो हैं नहीं। मेरे लिए शिक्षा हमारे कर्मों और विश्वासों को जांचने, इनमें तथा व्यापक दुनिया के बीच के संबंध तलाशने का आमंत्रण है। ऐसे सवालों को पूछने के लिए स्नेहशील और संवेदनशील वातावरण का होना सबसे महत्वपूर्ण है। ♦

भाषान्तर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा।